शिक्षा का विस्तार*

रवींद्रनाथ टैगोर

सभी को शिक्षा मिले इस बात पर हम लगातार ज़ोर देते आ रहे हैं। इसके लिए अनेक कदम भी उठाए गए हैं और अब शिक्षा प्राप्त करना बच्चों का मौलिक अधिकार बन गया है। परन्तु शिक्षा से हमारा क्या तात्पर्य है? कैसे इसे जन-जन तक पहुँचाया जाए, विद्या शिक्षा से कैसे भिन्न है? शिक्षा में आधुनिकीकरण का वास्तविक अर्थ क्या है? शिक्षा के विस्तार के क्या-क्या साधन हो सकते है? शिक्षा क्या केवल उपाधि प्रदान करने के लिए दी जाए अथवा उसे जीवन से जोड़ा जाए आदि बिंदुओं पर चर्चा करता रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा फरवरी 1933 को कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए भाषण का लिखित रूप में प्रकाशित यह लेख आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और सार्थक प्रतीत होता है अतः पाठकों के लिए इसे यहाँ पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

भोग्य वस्तुओं का भण्डार जमा हो उठे, और रसोईघर में चूल्हे पर बर्तन चढ़ा हो, तो भी उसे भोज नहीं कहा जा सका। आँगन में कितनी पत्तल लगी है, कितने लोगों को न्योता दिया गया है, इसी में है भोज की मर्यादा। हम 'एज्युकेशन' शब्द को दोहराकर मन ही मन खुश होते हैं; लेकिन इसमें भी भण्डारघर का ही रूप है– बाहर आँगन सूना पड़ा है। स्कूॅल कॉलेजों में शिक्षा के आलोक के लिए बड़ी- सी लालटेन जलाई गई है। लेकिन वह आलोक यदि दीवारों से अवरुद्ध हो जाए तो यह हमारा दुर्भाग्य होगा। चित्र की अभिव्यक्ति पृष्ठभूमि पर ही होती है; उसी तरह सारे देश की पृष्ठभूमि पर ही शिक्षा परिस्फुट हो सकती है। अपनी व्यापक पृष्ठभूमि से अलग होकर शिक्षा अस्पष्ट और असम्पूर्ण बन जाती है; केवल अभ्यासवश उसके दैन्य की वेदना हमारे मन को प्रभावित नहीं करती। 'एज्युकेशन' के संबंध में जब हम अन्य देशों के साथ स्वदेश की तुलना करते हैं तो समान बातों पर ही हमारा ध्यान जाता है। हम देखते हैं कि विदेशों में विश्वविद्यालय हैं, हमारे देश में भी इसके प्रतिरूप कुछ विश्वविद्यालय हैं। लेकिन

*'रवींद्रनाथ के निबन्ध' (भाग-1), [साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2004] से साभार प्रकाशित।

हम यह भूल जाते हैं कि ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ विद्यालय के बाहर समाजव्यापी अनौपचारिक शिक्षा की विस्तृत परिधि न हो।

किसी समय हमारे देश में भी ऐसी परिधि थी। मध्ययुगीन यूरोप की तरह हमारे देश में भी शास्त्र-शिक्षा ही प्रधान थी। यह शिक्षा विशेष रूप से पाठशालाओं में दी जाती थी, लेकिन इस विद्या की पृष्ठभूमि सारे देश में व्याप्त थी। विशिष्ट ज्ञान और साधारण ज्ञान में नित्य आदान-प्रदान था। पंडित मंडली और अपण्डित जनता में 'ओसिस' और मरुभूमि जैसा वैपरीत्य नहीं था। देश का कोई अनादर प्राप्त भाग नहीं था जहाँ रामायण, महाभारत तथा पौराणिक कथाओं की धर्मव्याख्या न की जाती हो। यही नहीं, जनसाधारण की चित्तभूमि ऐसे तत्वज्ञान से सिंचित थी जिसके लिए कठिन अध्यवसाय आवश्यक होता है। पेड़ को जो खाद दिया जाता है यह यदि पानी से अच्छी तरह तरल हो जाए तभी पेड़ उसे अपनी शाखा-प्रशाखाओं में ग्रहण कर पाता है। किसी दिन हमारे देश में कठिन विद्या भी रस से विगलित थी और सर्वसाधारण का मन उससे संचारित था। सार्वजनिक निमार्ण कार्य धर्म का ही अंग था। गाँव-गाँव में जलाशय बनाए जाते थे; लोग आपस में मिलकर स्वयं अपनी तृष्णा का उपाय करते थे, उसके लिए सरकारी कमेटी की जरुरत नहीं थी। उसी तरह देश की विद्या का भी समाज में अपने-आप वितरण होता था यदि ऐसा न होता तो आज सारा देश बर्बरता के अंधकार में निमग्न होता। उस समय विद्या विद्वानों की निजी संपत्ति नहीं थी... वह सारे समाज की संपदा थी।

एक दिन मुझे ऐसे सामान्य गाँव के किसानों ने निमंत्रित किया जहाँ अखबारों के पन्ने उलटने की आवाज तक सुनाई नहीं पड़ती थी। अधिकतर लोग मुसलमान थे। मेरे स्वागतार्थ गाने-बजाने का आयोजन किया गया था। शामियाने में मिट्टी के तेल की लालटेन जल रही थी, बड़े-बूढ़े सभी चुपचाप बैठे थे। यात्रागान का मुख्य विषय था गुरु-शिष्य के बीच तत्वालोचन-देहतत्व, सृष्टितत्व, मुक्तित्व। बीच-बीच में नाच-गाने की झंकार सुनाई पड़ती थी। उस गान का एक विशेष अंश आज भी मुझे याद है। यात्री वृंदावन में प्रवेश करना चाहता है पहरेदार उसे रोकता है, कहता है–'तुम चोर हो, तुम्हारे लिए प्रवेश नहीं है'। वाह जी! कौन-सा माल चुराया है मैंने? द्वारपाल उत्तर देता है—'वह जो तुम्हारे वस्त्र के नीचे छिपा हुआ 'अपनापन' है वह तो हमारे राजा का माल है, तुमने उसे चुराकर रख लिया है।' अचानक ढोल जोर से बज उठता है, नाच शुरु हो जाता है, नाचने वाले के कृत्रिम लम्बे बाल हवा में चक्कर काटते हैं–मानो किसी पाठ के मुख्य अँश की ओर खींचकर अध्यापक महाशय ने पैंसिल से डबल लकीर खींचकर ध्यान दिलाया हो। रात होने को है, दोपहर से गाना-बजाना चलता रहा है, श्रोतागण चुपचाप सुन रहे हैं। सब बातें समझें या न समझें, एक अजीब स्वाद उन्हें मिलता है जो दैनंदिन जीवन की नीरस तुच्छता को भेदकर एक ऐसा रास्ता खोल देता है जो उन्हें 'चिरंतन' की ओर ले जाता है।

देश में बहुत प्राचीन काल से ही यही होता आया है। लोगों ने एक विचित्र रसोपलब्धि के साथ कथाएँ सुनी हैं–ध्रुव-प्रह्लाद की कथा, सीता का वनवास, कर्ण का कवच दान, हरिश्चन्द्र का सर्वस्व त्याग। कितने ही दु:ख थे, अविचार था,

जीवन यात्रा में पग-पग पर अनिश्चित्ता थी। लेकिन इन सबके के साथ-साथ शिक्षा का एक ऐसा प्रवाह भी था जो भाग्य की विमुखता के बीच मनुष्य को अपनी आंतरिक संपत्ति की ओर ले जाता था, जो मनुष्य की उस श्रेष्ठता का उज्ज्वल परिचय देता था जिसे अवस्था की हीनता छोटा नहीं बना सकती। अमरीकी 'टाँकी' द्वारा और कोई काम भले ही हो, यह काम नहीं हो सकता।

अन्य देशों में इधर कुछ दिनों से अनिवार्य शिक्षा का प्रवर्त्तन किया गया है। हमारे देश की जनशिक्षा को अनिवार्य नहीं बल्कि स्वैच्छिक कहा जा सकता है। ऐसी शिक्षा दीर्घकाल से चली आई है। उसके पीछे कभी कोई कानून नहीं रहा, कोई जबरदस्ती नहीं रही। उसका स्वत: संचार घर-घर में होता रहा, जैसे—सारे शरीर में रक्त प्रवाहित होता है।

समय बदल गया। शिक्षित समाज राज-द्वार की ओर ताकते हुए मंत्री-सभा में प्रवेश करने का अधिकार माँगने लगा—कभी करुण कण्ठ से, कभी कृत्रिम आक्रोश के साथ। गाँव-गाँव में पीने का पानी पंकिल हो गया—उधर शहरों में द्वार-द्वार पर नल का पानी बहने लगा। हम विस्मित होकर कह उठे, यही है उन्नति। देश का वृहत् रूप हमारी दृष्टि से ओझल हो गया; देश का जो प्राण आलोक की तरह सारे देश में प्रसारित था। वह छोटे-छोटे केंद्रों में प्रतिसंहत हो गया।

आजकल हम जिसे एज्युकेशन कहते हैं उसका आरंभ शहर में होता है। व्यवसाय और नौकरी उसके पीछे-पीछे आनुषंगिक रूप से चलते हैं। यह विदेशी शिक्षाविधि रेलगाड़ी के डिब्बे में जलने वाले दीप की तरह है—कमरा उज्जवल है, लेकिन जिस प्रदेश से रेल गुजर रही है वह सैकड़ों मीलों तक अंधकार में लुप्त है। कारखाने में बनी गाड़ी ही मानो सत्य है, और प्राण-वेदना से परिपूर्ण समस्त देश अवास्तविक है।

नगरनिवासियों के एक दल को इस सुयोग से शिक्षा मिली, सम्मान और संपत्ति मिली। वे कहलाए, 'आलोकित', 'एंलाइटेण्ड'। लेकिन उस आलोक के हेतु सारे देश में सम्पूर्ण ग्रहण लग गया। स्कूल के बैंच पर बैठकर जिन्होंने अँग्रेज़ी के सबक दोहराये उनकी आँखे शिक्षादीप्ति से चकाचौंध हो गईं। उनकी दृष्टि में शिक्षित समाज ही पूरा देश है–उनके लिए मोरपँख ही मोर है, हाथीदाँत ही हाथी है। उनका नाट्यमंच कान्सवाद्य से मुखरित है, लेकिन नेपथ्य में हैं देश के गाँव, जहाँ रोग और अज्ञान जमा हो गए हैं, जहाँ न पीने को पानी है न चलने को रास्ते। नगरी सुजला-सुफला हो गई है, और वहीं आरोग्य निकेतन पनप रहे हैं, शिक्षा के लिए प्रासाद खड़े हो रहे हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि देश के प्रांत-प्रांत के बीच विच्छेद की ऐसी घातक छुरी अब तक कभी नहीं चलाई गई थी। इसको आधुनिकता का लक्षण कहकर इसकी निंदा करने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि किसी सभ्य देश में ऐसी हालात नहीं है। दूसरे देश में आधुनिकता सप्तमी के चँद्रमा की तरह आलोक और अंधकार के दो खण्डों में विभाजित नहीं हुई है। जापान में पाश्चात्य विद्या का प्रभाव भारत की तुलना में बहुत अल्पकाल तक रहा है, लेकिन यहाँ वह विद्या जोड़ लगाई हुई पुरानी गुदड़ी नहीं बनी। वहाँ परिव्याप्त विद्या के असर से देश के मन में चिंतन-शक्ति का

संचार हुआ है। यह चिंतन एक ही साँचे में ढली हुई चीज नहीं। आधुनिकता युगलक्षण के ही अनुसार इस चिंतन में वैचित्र्य भी है, ऐक्य भी। उसका ऐक्य युक्ति पर आधारित है।

कुछ लोगों ने आँकड़ों की सहायता से प्रमाणित किया है कि पहले भारत की ग्रामीण पाठशालाओं में जो प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध थी वह ब्रिटिश शासन काल में क्रमश- कम होती गई है। लेकिन इससे भी बड़ी क्षति यह हुई है कि जनशिक्षा के सभी सहज मार्ग लुप्त हो गए हैं। सुना जाता है, किसी दिन बँगाल में नहरें काटने का काम बड़ी निपुणता से किया गया था। वर्तमान काल की असावधानी और मूर्खता के कारण ये पुरानी नहरें बेकार हो गई हैं। इसी तरह देश में शिक्षा की नहरें भी बंद हो गई हैं, और सभी दिशाओं में हीनता तथा दैन्यता का विकास हुआ है। हमारे देश में शिक्षा की एक बड़ी समस्या का समाधान किया गया था; अनुशासन की शिक्षा आनन्द की शिक्षा बनकर देश के हृदय में प्रविष्ट हो गई थी और समस्त समाज की प्राणक्रिया के साथ उसका मिलन हुआ था। देशव्यापी प्राण के इस खाद्य का आज अकाल पड़ा है। पूर्वसंचित थोड़ा बहुत खाद्य बाकि है, तभी हम इस अकाल की विनाशमूर्ति को नहीं देखते।

मध्य एशिया के रेगिस्तान में जिन पर्यटकों ने प्राचीन युग के अवशेष ढूँढ़े हैं, उन्होंने देखा है कि कितने ही समृद्ध जनपद बालू के नीचे दबकर विलीन हो गए। किसी समय वहाँ विपुल जल संचय था, नदियों के रेखाचिह्न अब तक दिखाई पड़ते हैं। लेकिन बाद में रसधारा सूख चली, रेत ने धीरे-धीरे पैर बढ़ाये, अपनी शुष्क जिह्वा से प्राण का शोषण किया। आखिर लोकालय के अन्तिम चिह्न एक असीम पीलेपन से लुप्त हो गए। हमारे ग्रामीण देश की मनोभूमि में भी आज रसधारा का अवसान हो रहा है। दीर्घकाल तक जो देश के निम्न स्तर पर विद्यमान था। उसका भी शुष्क वायु के उष्ण नि:श्वासों से धीरे-धीरे अन्त होगा। प्राणनाशक मरुभूमि प्यासे अजगर की तरह आगे बढ़ेगी और देश को निगलने लगेगी। मरुभूमि के इस आक्रमण को हम नहीं देखते, क्योंकि हमारी दृष्टि केवल शिक्षित समाज पर ही केंद्रित है।

मैं एक लम्बे अरसे तक बँगाल के गाँवों के संपर्क में रहा हूँ। गर्मी के दिनों में मैंने दु:खद दृश्य देखे हैं। नदी का जल उतर चुका है, किनारे की मिट्टी में दरारें पड़ी हैं, तप्त बालू धधक रही है, तालाबों में कीचड़ के सिवा कुछ नहीं। स्त्रियाँ दूर-दूर से घड़ों में पानी ला रही हैं—उस जल में बँगदेश के अश्रु मिले हैं। गाँव में आग लगने पर उसे बुझाने का कोई उपाय नहीं, हैजा फैलने पर उसके निवारण का कोई साधन नहीं।

और भी एक दु:ख की वेदना से मेरा मन बार-बार काँप उठा है। संध्या हो चली, दिन-भर का काम खत्म करके किसान घर लौट रहे हैं। एक ओर विस्तृत खेत पर अंधेरा छा रहा है, दूसरी ओर बाँस के जंगलों में छोटे-छोटे गाँव हैं– अँधेरे द्वीपों की तरह। वहाँ से ढोल की आवाज आ रही है। एक तारे की संगत पर कीर्तन चल रहा है – एक ही पद को हजारों बार तारस्वर से गाया जा रहा है। सुनकर मुझे लगा, यहाँ भी चित्तजलाश्य सूख चला है। गर्मी बढ़ रही है, उसे शान्त करने का कोई उपाय नहीं। एक के बाद

एक वर्ष गुजरते जाते हैं, इसी दैत्यावस्था में। कैसे उनकी रक्षा होगी यदि बीच-बीच में वो अनुभव न करें कि किस मजदूरी के अलावा मनुष्य के पास 'मन' नाम की कोई चीज है जहाँ दुर्भाग्य के दासत्व से ऊपर उठकर साँस ली जा सकती है। किसी दिन लोगों को इस तरह की तृप्ति दिलाने के लिए सारे समाज ने यत्न किया था, क्योंकि समाज ने इन साधारण लोगों को अपना समझकर स्वीकार किया था। समाज जानता था कि इनके पतन में सारे देश का पतन है। लेकिन आज उनके मन की भूख मिटाने के लिए कोई मदद नहीं करता। उनके कोई आत्मीय नहीं हैं – बीते हुए युग की तलछट से ही वे बेचारे किसी तरह अपने-आपको सांत्वना देते हैं। कुछ दिनों में यह तलछट भी चूक जाएगी। दिनभर के श्रम और दु:ख के बाद उनके निरानन्द मकानों में दीप जलेगा। गान का स्वर नहीं सुनाई पड़ेगा। बाँस के जंगल में बिल्ली बोलेगी, कभी आस-पास की झाड़ियों में सियार बोलेंगे – और उसी समय नगर के शिक्षाभिमानी लोग बिजली की रोशनी में सिनेमा देखने के लिए भीड़ लगाएँगे।

हमारे देश में एक ओर, सनातन शिक्षा का प्रवाह रुक गया है, जनसाधारण के लिए ज्ञान का अकाल पड़ा है; दूसरी ओर, आधुनिक युग की विद्या का आविर्भाव हुआ है। इस विद्या की धारा देश की जनता की ओर नहीं बहती। इसका पानी अलग-अलग जगहों पर जमा हो गया है; पत्थर के कुण्ड बन गए हैं; दूर-दूर से यहाँ आकर पण्डों को दक्षिणा देनी पड़ती है, कितने ही नियम निभाने पड़ते हैं। मंदाकिनी शिवाजी की जटाओं से नीचे उतरती हैं, साधारण लोगों के लिए घाट-घाट पर प्रस्तुत होती है, कोई भी अपने घट में उसका प्रसाद भर सकता है। लेकिन हमारे देश की आधुनिक विद्या वैसी नहीं, उसका केवल विशिष्ट रूप है, साधारण रूप नहीं। इसलिए अँग्रेज़ी सीखकर जिन्होंने वैशिष्ट्य प्राप्त किया है उनके मन का सर्वसाधारण के साथ सामञ्जस्य नहीं है। देश में सबसे तीव्र जाति-भेद इसी क्षेत्र में है, यहाँ श्रेणी-श्रेणी में अस्पृश्यता है।

अँग्रेज़ी भाषा में अवगुण्ठित विद्या हमारे मन की सहवर्तिनी होकर नहीं चल पाती। इसीलिए हममें से अनेक लोग जिस मात्रा में शिक्षा पाते हैं उस मात्रा में विद्या नहीं पाते। चारों ओर के वातावरण से यह विद्या विच्छिन है। हमारे घर और स्कूल के बीच ट्राम चलती हैं, मन नहीं चलता। स्कूल के बाहर हमारा देश है; दोनों में कोई सहयोग नहीं, बल्कि विरोध ही है। इस विच्छेद के कारण हमारी भाषा और चिंतन स्कूल के बच्चों की तरह हो गए हैं। नोटबुक के शासन से वे मुक्त नहीं हैं। हमारी विचारबुद्धि में साहस का अभाव है; पुस्तकों में दिए हुए दृष्टान्तों के सहारे वह डरते-डरते पग बढ़ाती है। शिक्षा के साथ देश के चित्त का सहज मिलन नहीं है और इस दिशा में कोई प्रयत्न भी नहीं किया गया। बहू बाप के घर में है, ससुराल नदी के दूसरे तट पर है, और बीच में रेत जमा हो गई है। उस पार ले जाने वाली नौका है कहाँ?

पार जाने के लिए एक छोटा डोंगा है जरुर– उसका नाम है साहित्य। यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक बँगला साहित्य का पालन-पोषण वर्तमान युग के अन्न-वस्त्र से ही हुआ है। इस साहित्य से हमारे मन को आधुनिक युग का स्पर्श मिला

है, लेकिन यह नाव भी नदी के दूसरे तीर से यथेष्ट मात्रा में खाद्य सामग्री नहीं ला पाती। जिस विद्या ने वर्तमान युग की चित्तशक्ति को विचित्र रूपों में व्यक्त किया है, विश्व-रहस्य के नये-नये प्रवेश द्वार खोल दिए हैं, उस विद्या का हमारे बँगला साहित्य के मोहल्ले में बहुत कम आना जाना है। जो मन विचार करता है, चिंतन करता है, बुद्धि और व्यवहार में योग स्थापित करता है, वह तो बीते हुए युग में ही पड़ा है जो मन रसोपभोग करता है उसने अवश्य आधुनिक भोजनशाला के आँगन में यात्रा करना प्रारम्भ किया है। स्वभावतः इस रसोपभोगी मन का झुकाव उस दिशा में है जहाँ मदिरा का वितरण होता है, जहाँ की वायु नशीली गंध से ओत-प्रोत है।

बँगला साहित्य में अधिकतर कहानी-कविता नाटक को ही स्थान मिला है। यह उपभोग के आयोजन हैं, शक्ति के नहीं। पाश्चात्य देशों में विविध शक्तियों के सहयोग से ही चित्तोत्कर्ष सम्भव हुआ है। वहाँ देखा जाता है कि मनुष्यत्व शरीर-मन-प्राण सभी दिशाओं में व्याप्त है। इसलिए वहाँ यदि त्रुटियाँ हैं तो हों, एक तरह से परिपूर्ति भी है। वटवृक्ष की कोई डाल चाहे आँधी में टूट गई हो, किसी जगह कीड़ा लग गया हो, किसी साल बारिश कम होने से पेड़ कुछ सूख-सा गया हो लेकिन इन सबके बावजूद बरगद जमा हुआ है, उसने अपने स्वास्थ्य को, अपनी बलिष्ठता को सँभाला है। पाश्चात्य देशों में मन को उसकी विद्या, शिक्षा साहित्य सबने मिलकर क्रियाशील रखा है। इन सबके उत्कर्ष से ही उसकी कर्मशक्ति अक्लांत रही है, विकसित हुई है।

हमारे साहित्य में रस का ही प्राधान्य है। जब कोई असंयम या चित्त-विकार अनुकरण के रास्ते से इस साहित्य में प्रवेश करता है तो वही एकान्तिक हो उठता है, कल्पना-शक्ति को रुग्ण विलासिता की ओर ले जाता है। प्रबल प्राण-शक्ति यदि जागृत न हो तो शरीर का क्षुद्र विकार भी विषैले कीड़े का रूप धारण करता है। हमारे देश में इसी बात की आशंका है। इसके लिए जब हमें दोष दिया जाता है तो हम पाश्चात्य सभ्यता का दृष्टांत देते हैं और कहते हैं—'आधुनिकतम सभ्यता की यही परिणति है'। लेकिन आधुनिक सभ्यता की जो चिंतनशील, प्रबल, समग्रता है उसे हम भूल जाते हैं।

मैं जब गाँव में रहता था, साधु-साधकों का वेष धारण किये हुए लोग कभी-कभी मेरे पास आते थे। साधना के नाम पर वे उच्छंखल इन्द्रिय-चर्चा करते। इसमें उन्हें धर्म का प्रश्रय प्राप्त था। उन्हीं से मैंने सुना है कि शिष्यों की शृंखला से यह प्रश्रय शहरों में भी उपलब्ध है। धर्म के नाम पर यह पौरुषघातक लालसा इसीलिए व्याप्त हो पाती है कि हमारे साहित्य और समाज में उन उपादानों का अभाव है जिनसे महान् चिंतन को तथा बुद्धि की साधना को आश्रय मिल सके, मन को कठिन गवेषणा के लिए उत्सुक रखा जा सके।

अन्तोगत्वा इसके लिए बँगाल के साहित्यकों को दोष नहीं दिया जा सकता। यह कहना तो आसान है कि हमारा साहित्य सारगर्भित नहीं है, लेकिन किस तरह उसे सारयुक्त बनाया जा सकता है यह निर्णय करना उतना सहज नहीं। रुचि के संबंध में लोग सतर्क नहीं हैं, क्योंकि रुचि के क्षेत्र

में किसी का शासन नहीं चलता। रस-सामग्री से तो अशिक्षित रुचि भी किसी-न- किसी तरह स्वाद प्राप्त कर लेती है। यदि वह समझे कि उसी का बोध रसानुभूति का चरम आदर्श है तो इस बात पर बहस छेड़ना बेकार है—ऐसी बहस का कोई अन्त नहीं। कविता-कहानी -नाटक के बाज़ार में जिन्हें समझदारों का राजपथ नहीं मिलता है वे आखिर देहात में खेत की पगडण्डियों पर चलते हैं वे जहाँ किसी तरह का महसूल नहीं लगता। लेकिन मनन-योग्य विद्या खेत को नहीं, उस सिंहद्वार को पार करके ही मिलती है जिस पर कड़ा पहरा लगा होता है। जिन देशों से लक्ष्मी और सरस्वती प्रसन्न हैं, वहाँ के लोग इस विद्या तक पहुँचने के लिए नये-नये पथ तैयार करते रहते हैं। दूर और निकट, घर में और घर से बाहर, मूल्यवान वस्तुओं का आदान-प्रदान चलता रहता है। हमारे देश को भी यही करना होगा; पर विलम्ब करने से काम नहीं चलेगा।

बँगाल के आकाश पर दुर्भाग्य के बादल चारों ओर से जमा हो गए हैं। किसी समय राजदरबार में बँगालियों की यथेष्ट प्रतिष्ठा थी। भारत के अन्य प्रदेशों में बँगालियों ने कर्मक्षेत्र में ख्याति प्राप्त की है। वे शिक्षा प्रसारण के अग्रणी रहे हैं। कभी उन्हें लोगों की श्रद्धा और अकुंठित कृतज्ञता प्राप्त थी। आज राजपुरुष उनसे रुष्ट हैं, अन्य प्रदेशों में उनके प्रति जो आतिथ्य भावना थी वह संकुचित हो गई है। द्वार अवरुद्ध है। बँगाल की आर्थिक दुर्गति भी बहुत बढ़ गई है।

अवस्था के दैन्य से और अशिक्षा की आत्मग्लानि से बँगाली कहीं नीचे न झुक जाएँ, उनका मन दुर्भाग्य से ऊपर उठ सके, यही चेष्टा हम सबको अपने आपमें जगानी है। जब मनुष्य का मन छोटा हो जाता है, क्षुद्रता के आघात से सभी उद्योग शिथिल पड़ जाते हैं। बँगदेश में ईर्ष्या, निन्दा, दलबन्दी और परस्पर धिक्कार तो है ही; उस पर यदि चित्त का प्रकाश भी मलिन हो चले तो आत्मश्रद्धा के अभाव से दूसरों को नीचे गिराने का प्रयास और भी घातक बन जाऐगा। आज हिन्दू मुसलमानों में जो लज्जास्पद संघर्ष चल रहा है—जो देश को आत्म विनाश की ओर ले जा रहा है—उसका मूल भी देशव्यापी अबुद्धि में ही है। बुद्धिहीनता की सहायता से ही अकल्याण हमारे भाग्य की दीवारें गिरा रहा है। इसी अकल्याण ने हमारे आत्मीयजनों को शत्रु बना दिया है और विधाता को भी हमारे पक्ष में नहीं होने दिया। आखिर अपना ही सर्वनाश करने की जिद यहाँ तक पहुँच गई है कि बँगाली होते हुए बँगला भाषा को भी विदीर्ण करने की चेष्टा हमारे लिए सम्भव हुई है! शिक्षा और साहित्य के उदार क्षेत्रों में भी-जहाँ सारे मतभेदों के बावजूद देश के लोगों का मिलन-स्थान है—अपने हाथों से काँटे बिछाते हुए हमें लज्जा का बोध नहीं हुआ। हमें दु:ख सहना पड़ता है तो इसमें धिक्कारणीय कोई बात नहीं है। लेकिन देशभर के अशिक्षाग्रस्तों के व्यवहार से हमारा माथा झुक गया है, हमारे सारे महान् उद्यम व्यर्थ हो गए हैं। राष्ट्रों के बाज़ार में अधिकारों के लिए हम चाहे जितने उच्च स्वर में मोल-भाव करें, वहाँ गोलमेज़ के बबंडर में हमारी व्यर्थता का इलाज नहीं मिलेगा। नाव के पैंदे में तख्ते अलग हो रहे हैं, सबसे पहले उनकी ओर ध्यान देना होगा, तख्तों को बाँधना होगा।

सबसे पहले हमें शिक्षित मन की आवश्यकता है। स्कूल-कॉलेज के बाहर शिक्षा के विस्तार का साधन है साहित्य। लेकिन साहित्य को सर्वांगीण रूप से शिक्षा का आधार बनाना है। उसको ग्रहण करने का पथ सबके लिए सुगम बनाना है। इसके लिए हम किस मित्र की मदद ले सकते हैं? मित्र तो आजकल दुर्लभ हो गए हैं। इसीलिए मैं बँग देश के विश्वविद्यालय के द्वार पर सहायता-याचना कर रहा हूँ।

शरीर के अँग-प्रत्यँग में मस्तिष्क और स्नायुजल का अविच्छिन योग देखा जा सकता है। विश्वविद्यालय को मस्तिष्क का स्थान देकर देश के समस्त शरीर के स्नायुतंत्र को प्रेरणा देनी होगी। प्रश्न यही है कि किस तरह यह बात सम्भव हो सकेगी। मेरा सुझाव है कि एक ही परीक्षा के जाल में देश को समेट लिया जाए। यह व्यवस्था ऐसी सहज और व्यापक होनी चाहिए कि स्कूल-कॉलेज के बाहर भी पाठ्यपुस्तकों के प्रति उत्साह उत्पन्न हो। विश्वविद्यालय प्रत्येक जिले में परीक्षा केंद्र स्थापित कर सकता है जहाँ घर की स्त्रियाँ और वे सब पुरुष, जो विभिन्न कारणों से स्कूल में भर्ती नहीं हो सकते, अवकाशकाल में अपनी चेष्टा से अशिक्षा की लज्जा को दूर कर सकें। बहुत से विषयों को सूत्रबद्ध करके विश्वविद्यालय में डिग्री प्रदान की जाती है। लेकिन मैंने जिस क्षेत्र की स्थापना का सुझाव दिया है वहाँ उपाधि देने के लिए इस तरह की बहुलता जरुरी नहीं है। अधिकतर देखा जाता है कि व्यक्ति के मन में किसी विशेष विषय के लिए प्रवीणता होती है। उसी विषय पर यदि वह अधिकार प्राप्त कर लें तो उसे समाज में उचित स्थान मिलना चाहिए। इस अधिकार से उसे वंचित रखने का मैं कोई कारण नहीं देखता।

विश्वविद्यालय यदि अपने पीठ स्थान के बाहर भी व्यापक रूप से अपनी सत्ता प्रसारित करे, तो बँगला भाषा में यथोचित सँख्या में शिक्षा के लिए पाठ्यपुस्तकों की रचना सम्भव होगी। अन्यथा बँगला साहित्य का विषय-दैन्य दूर नहीं हो सकता। जिन शिक्षणीय विषयों के ज्ञान की आत्मसम्मान माँग करता है उनके अध्ययन के लिए यदि बाध्य होकर अँग्रेज़ी की शरण लेनी पड़े, तो इस अकिंचनता से मातृभाषा सदा अपमानित रहेगी। जो बँगाली केवल बँगला ही जानते हैं उन्हें क्या शिक्षित समाज में सर्वदा निम्न श्रेणी पर ही रहना होगा? एक ऐसा समय भी था—मैं बँगला नहीं जानता', और, देश के लोग भी उसका गौरव करते थे। वह दिन बीत चुका है। लेकिन आज भी बँगाल के छात्रों को यह कहते शर्म से सिर झुकाना पड़ता है कि 'मैं केवल बँगला भाषा ही जानता हूँ।' एक ओर राजनीतिक क्षेत्र में हम स्वराज प्राप्त करने के लिए कठोर दुःख सह सकते हैं, लेकिन शिक्षा के क्षेत्र में स्वराज प्राप्त करने का उत्साह हममें नहीं है। आज भी देश में ऐसे लोग हैं जो सोचते हैं कि शिक्षा को बँगला भाषा के आसन पर बिठाने से उसका मूल्य कम हो जाएगा। जब पहले-पहल लोग विलायत की यात्रा करने लगे तो अँग्रेज़ियत का नशा इस तरह चढ़ा कि स्त्रियों के साड़ी पहनने से 'प्रेस्टीज़' को चोट पहुँचने लगी ! बहुत से बँगवासी आज भी समझते हैं कि शिक्षा-सरस्वती को साड़ी पहनाने से मानहानि होगी। लेकिन यह स्पष्ट है कि हमारे घर की देवी साड़ी पहनकर ही आराम के साथ

चल-फिर सकती है। ऊँची एड़ी के जूते पहनने से उसे पग-पग पर असुविधा होगी।

किसी दिन, जब मेरी आयु अल्प थी पर शक्ति अधिक, मैं अँग्रेज़ी साहित्य के नमूनों को पढ़कर उसी समय उनका बँगला अनुवाद करके लोगों को सुनाता था। मेरे श्रोता अँग्रेज़ी जानते थे। फिर भी उन्होंने स्वीकार किया है कि अँग्रेज़ी साहित्य का संदेश बँगला भाषा के माध्यम से उनके मन तक सहज ही पहुँच सका। वास्तव में आधुनिक शिक्षा 'अँग्रेज़ी भाषा वाहिनी' है, इसीलिए हमारे मन के प्रवेश-पथ पर उसे रुकावट का सामना करना पड़ता है। अँग्रेज़ी 'डिनर टेबल' की जटिल पद्धति से जो अभ्यस्त नहीं होते, ऐसे बँगाली छात्र जब पी.एण्ड.ओ. जहाज से विलायत की यात्रा करते हैं तो उन्हें स्टीमर के भोाजनगृह में कठिनाई होती है। जब वे खाने बैठते हैं तो भोज्यवस्तु और रसना के बीच काँटा-छुरी बाधा डालती है और भरपूर खाद्य-सामग्री होने पर भी उन्हें खाली पेट उठना पड़ता है। हमारी शिक्षा के भेज की भी यही दशा है। है तो सब-कुछ, लेकिन एक बड़ा हिस्सा व्यर्थ हो जाता है। यह मैं कॉलेज यज्ञ के संबंध में कह रहा हूँ जहाँ शिक्षा के पानी का नल लगा हुआ है, बल्कि वहाँ की, जहाँ तक पाइप नहीं पहुँचे।

मातृभाषा में यदि शिक्षा की धारा प्रशस्त न हो तो इस विद्याहीन देश में मरुवासी मन का क्या होगा?

बँगला-भाषिणी तृषित मातृभूमि की ओर से बँगदेश के विश्वविद्यालय के पास मैं चातक की तरह उत्कुंठित वेदना लेकर आया हूँ और अनुरोध करता हूँ-तुम्हारे अभ्रभेदी शिखरों को घेरकर प्राणवाही श्यामल मेघ जमा हों, उनका प्रसाद तुम्हारी धरती पर बरसे, उसे फूल-फूल से भर दे! तुम्हारा उद्यान पल्लवित, कुसुमित हो, मातृभाषा का अपमान दूर हो, युगशिक्षा की तरंगमयी धारा बँगाली चित्त के शुष्क नदी-पथ को प्लावित करे। दोनों किनारे पूर्ण चेतना से जागरित हों, और घाट-घाट पर आनन्दध्वनि गूँज उठे।

(बँगला के प्रोफ़ेसर के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में फरवरी 1933 को दिया गया भाषण) 'शिक्षा' (विश्वभारती संस्करण) पुस्तक में समाविष्ट।